ANCIENT INDIAN HISTORY & ARCHAEOLOGY, PATNA UNIVERSITY, PATNA

उपनिषद में वर्णित दर्शन

B.A. Honours Part- III

Paper –V, Ancient Indian Religion and Philosophy

Dr. Manoj Kumar

Assistant Professor (Guest)

Dept. of A.I.H. & Archaeology,

Patna University, Patna-800005

Email- dr.manojaihcbhu@gmail.com

PATNA UNIVERSITY, PATNA

उपनिषद में वर्णित दर्शन

उपनिषद साहित्य का विकास वेदों का मंथन करके किया गया है जो वेद रूपी समुद्र का मथा हुआ अमृत तत्त्व है। इसमें वैदिक ज्ञान और चिन्तन सन्निविष्ट है। आध्यात्मिक विचार और तर्क-दृष्टि का भी इसमें समावेश किया गया है । उपनिषदों की संख्या 108 के लगभग है, किन्तु इसमें ईशावास्य, केन कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य,बृहदारण्यक आदि उपनिषद् अधिक प्रसिद्ध हैं।

उपनिषद् का शाब्दिक अर्थ है रहस्यज्ञान अथवा शास्त्र ज्ञान के लिए गुरु के निकट बैठना और एकान्त में ज्ञान प्राप्त करना। उस युग में प्रायः जिज्ञासु विद्यार्थी गुरु के सान्निध्य में रहकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करता था इसीलिए उपनिषद् के अर्थ की सार्थकता थी। किन्तु शंकराचार्य ने तैत्तिसरीय उपनिषद् की टीका करते हुए लिखा है कि उपनिषद् वह ज्ञान है जिससे जन्म-जरा-मरण का क्लेश दूर हो जाता है और उत्तम ज्ञान की प्राप्ति होती है। उपनिषदों को 'वेदान्त' भी कहते हैं क्योंकि ये वेदों के अन्त में लिखे गए। वस्तुतः ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली अध्यात्म विद्या ही उपनिषद् थी जिसके अनुशीलन से अविद्या का विनाश (विशरण) और गर्भवासादि दुःखों का सर्वथा शिथिलीकरण (अवसादन) हो जाता है। सूक्ष्म उपासनाओं और युक्तियों के माध्यम से साक्षात् अथवा परम्परा रूप में परमब्रह्म परमात्मा का चिन्तन उपनिषदों में किया गया है। अध्यात्म तत्त्व का मूल आधार उपनिषद् ही है। भारत की समस्त चिंतन धाराएँ उपनिषदों से ही निःसृत हैं। किन्तु उपनिषदों को तत्त्वज्ञान वेदों से ही प्राप्त हुआ है। उपनिषदों के द्वैतवाद का प्रधान त्त्व ऋग्वेद और अथर्ववेद से ग्रहण किया गया है संहिताओं में विवृत त्त्वज्ञान उपनिषदों में आकर पल्लवित और पुष्पित हुआ है। वस्तुतः भारतीय तत्त्वज्ञान का यही विकास-क्रम है, जिसकी गौरवशाली चिन्तनधारा परवर्ती युग तक अनवरत प्रवहमान थी।

(1) ब्रह्म अथवा परमतत्त्व

उपनिषदों में ब्रह्म का उल्लेख 'परमतत्त्व ' के रूप में हुआ है। 'मुण्डकोपनिषद्' में यह पृच्छा की गई है कि वह कौन है जिससे विश्व की प्रत्येक वस्तु का ज्ञान हो जाता है।

इसके उत्तर में कहा गया है कि वह त्त्व 'ब्रह्म' है : 'ब्रहम' का अर्थ 'बृहत्' अथवा 'बड़ा' से है, जिसमें विश्व की विशालता का ज्ञान है। ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं - एक सगुण रूप (अपरब्रह्म) और दूसरा निर्गुण रूप (परब्रह्म)। इन्हें 'मूर्त' और 'अमूर्त' भी कहा जा सकता है। ब्रह्म को मत्त्य और अमत्त्य स्थिर और अस्थिर (यत्), सत् (स्वलक्षण) और त्यत् (अवर्णनीय) भी स्वीकार किया गया है108 । इसी 'ब्रह्म' को परमात्मा कहा जाता है, जो अविद्या के कारण बंधन में पड़कर 'जीवात्मा' कहलाता है तथा पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार सुख-दुख के उपभोग के लिए इस जगतू में आता है और जन्म-मरण के बंधन में पड़ा रहता है। जगत् आन के समय अपने भोग के अनुरूप स्थूल शरोर को ग्रहण करता तथा आवश्यक सामग्री प्राप्त करता है। वह इहलोक और परलोक दोनों में भ्रमण करता है तथा स्वप्नावस्था में दोनों लोकों का एक साथ ज्ञान प्राप्त करता हैं। स्वप्न में वह सुख-दुख का अनुभव करता है। स्वप्न की सृष्टि ब्रह्म से मानी गई। वस्तुतः ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त रूप है, जो विज्ञान और आनन्द रूप भी है। विश्व का प्रत्येक तत्त्व और रूप 'ब्रह्म' का प्रतिरूप है। जिस प्रकार एक ही अग्नि प्रत्येक वस्तु में या एक ही वायु प्रत्येक रूप में स्थित है, उसी प्रकार समस्त भूतों का अंतरात्मा प्रत्येक रूप में सन्निविष्ट है। इसी प्रकार ब्रह्म से इस संसार की सृष्टि होती है 'छान्दोग्य' और 'तैत्तिरीय' उपनिषदों के अनुसार यह संसार उस ब्रह्म से उत्पन्न होता है। (तज्ज), उसी में लीन होता है (तल्ल) तथा उसी के कारण स्थितिकाल में प्राण धारण करता है"। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में यह विवृत किया गया है कि जिस प्रकार रथ की नाभि और नेमि में समस्त अरे फँसे रहते हैं उसी प्रकार ब्रह्म में सारे भूत, सारे देव सारे लोक, सारे प्राण, और सारी वस्तुएँ फँसी हुई है। अतएव अग्नि अर्थात् द्युलोक इसका सिर है, चन्द्र-सूर्य-नेत्र हैं, दिशाएँ कान हैं, वेद वाणी हैं, वायु प्राण हैं, विश्व हृदय है और पैरों से पृथ्वी का विस्तार हुआ है। यही (ब्रह्म) आगे और पीछे है, ऊपर और नीचे है, दाएँ और बाएँ है, सब कुछ और सर्वत्र है। इसी से सभी वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं। वस्तुत: निर्गुण ब्रह्म का निर्देश निषेधमुखेन ही था, भावमुखेन नहीं। इसी रूप की परिचायिका श्रुति थी। 'नेति-नेति (यह नहीं, यह

नहीं) ही परब्रह्म का वास्तविक परिचय था। देश काल और निमित्त रूपी उपाधियों से विरहित होने के कारण वह 'निरुपाधि' भी कहा गया। अतः ब्रह्म इस सृष्टि का समभावेन उपादान और निमित्त कारण दोनों था, जिससे समस्त विश्व जन्मा और उसी में समा गया। इसलिए समस्त संसार, जड़ और चेतन ब्रह्म है, दिव्य है, सत्य है और असीम है।

बृहदारण्यक उपनिपद्' में विवृत है कि सबसे पहले ब्रह्म का ज्ञान क्षत्रियों को हुआ और तदनन्तर ब्राह्मणों को। यह कथन इस बात का प्रमाण है कि ब्रह्म का ज्ञान कोई भी कर सकता था, उसमें जातिगत कोई भेद-भाव नहीं था।

(2) आत्मा की सत्ता: परमात्मा का रूप

आत्मा के अनेक पक्ष हैं, जिन्हें लेकर उपनिपदों में विवाद है। इस पर विभिन्न आचार्यों के विभिन्न विचार हैं। उद्दालक आरुणि का अभिमत है कि पृथ्वी आत्मा है, अश्वपति केकय की धारण है कि समस्त भूतों और तत्त्वों की सम्टि (अर्थात् समस्त विश्व) आत्मा है, प्राचीनशाल औपमन्यव का यह कथन है कि द्यौः आत्मा है; इन्द्रद्युम्न भाल्लबेय का यह मत है कि वायु आत्मा है, जन शार्कराक्ष्य की यह उपज्ञा है कि खाली स्थान आत्मा है और बुडिल आश्वतराश्वि के अनुसार जल आत्मा है। इन सभी विचारों में अश्वपति केकय का विचार अधिक व्यापक और समाधार से आविल है, अर्थात समस्त संसार आत्मा है (छांदोग्य०, 5.13.1, एष वै विश्वरूप आत्मा)। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' (3.7.2) में एक स्थल पर उद्दालक आरुणि और कबन्ध आथर्वण की जिज्ञासाओं का समाधान करते हुए याज्ञवल्क्य ने यह कहा है कि वायु ही वह सूत्र है जिसमें सब लोक, सब वस्तुएँ और सभी प्राणी आबद्ध हैं। विदग्ध शाकल्य से वार्ता करते हुए उन्होंने यह विचार प्रकट किया है कि प्राण ही एकमात्र देव है, जो एक-डेढ़ होकर पवन बन जाता है। वह समस्त विश्व में विद्यमान हैं, फिर वह दो अर्थात् भूत और प्राण हो जाता है, इसके बाद तीन होकर तीनों लोकों, द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी के रूप में परिवर्तित होता जाता है। बाद में, तीन के छह हो जाते हैं - वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यु, अग्नि, और पृथ्वी। ये छह पुनः

इकतीस बन जाते हैं , जिनमें आठ बसु (वायु, अग्नि, पृथ्वी, अन्तरिक्ष आदित्य, द्यु, चन्द्रमा और नक्षत्र), ग्यारह रुद्र (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक आत्मा) तथा बारह आदित्य अर्थात् बारह महीनों के समरूप सूर्य के बारह रूप। इन्द्र (प्रकृति रूप) और प्रजापति (जीव और जगत्) के इसमें मिल जाने पर इनकी संख्या तैतीस हो जाती है। धीरे-धीरे इनकी संख्या बढ़ती जाती है जो बढ़कर तीन हजार तीन सौ छह तक पहुँच जाती है, और फिर असंख्य रूपों में परिणत होकर विश्व में फैल जाते हैं। इस प्रकार विश्वरूपी ब्रह्म अर्थात् विश्वात्मा एक महान् पुरुष है जिसमें गति-प्रगति के विभिन्न क्रम, रूप-विवर्त्तों की विविध लीलाएँ और उत्थान-पतन की प्रक्रियाएँ निरन्तर चल रही हैं।

आत्मा को 'तुरीय' भी कहा जाता हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ थीं। 'तृतीय' दशा में आत्मा अदृष्ट, अग्राह्य, अव्यवहाये, अचिंतनीय, अव्यपदेश्य (नाम-रहित), प्रपंचोपशम, शांत, शिव, अद्वैत थी। यह अंतरंग दशा शुद्ध आत्मा की थी, जो ब्रह्म से अभिन्न थी। जो व्यक्ति इस संसार में अनेकत्व को देखता था वह मृत्यु के अनंतर मृत्यु को प्राप्त करता था। अत: इस जगत् में सर्वत्र इस एकता का व्यापक अनुभव करने वाला व्यक्ति अपने ज्ञान के बल पर 'सद्योमुक्ति' अपने एक ही जीवन में उपलब्ध कर सकता था। आत्मा की अनुभूति अपरोक्ष ही सम्भव थी। वास्तव में आत्मा की प्राप्ति न वेद के अध्ययन द्वारा होती थी, न धारणा शक्ति के द्वारा ही। भक्त जिस 'आत्मा' का वरण करता था उस आत्मा से ही यह प्राप्त की जा सकती थी। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति करती थी। ऐसी स्थिति में 'आत्मा' न प्रवचन से, न मेघा से और न अत्यधिक अध्ययन से ही प्राप्त हो सकती थी, अपितु आत्मा उसी को मिलती थी जिसे वह ग्रहण करती थी। वस्तुतः यह परमात्मा के अनुग्रह से ही सम्भव था। अंतस् की शुद्धि से ही आत्मा का ज्ञान हो पाता था। इसीलिए 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में कहा गया है कि पाप से बचने के लिए मनुष्य को आत्मा का दर्शन करना चाहिए, आत्मदर्शन से पाप की स्थिति नहीं रह पाती।

(3) परमात्मा (ब्रह्म) और जीवात्मा (मनुष्य)

उपनिषदों में ब्रह्म और जीव के पारस्परिक संबंध और उनकी समीपता पर तर्क किया गया है। संसार में असीम और समीम अथवा अनन्त और सान्त द्वन्द्व है, जिसका अनन्त रूप परमात्मा अथवा ब्रह्म है तथा सान्त रूप जीवात्मा अथवा मनुष्य है। अनन्त होने के कारण परमात्मा या ब्रह्म अमृत है तथा सीमाबद्ध होने के कारण जीवात्मा या मनुष्य जन्म-जरा-मरण के बन्धन में जकड़ा हुआ 'मृत' है। जन्म-जरा-मरण के इस बन्धन से मुक्ति तभी संभव मानी गई जब मनुष्य सीमा को तोड़कर, संकुचन को समाप्त कर तथा स्वार्थ को त्याग कर आगे बढ़ता है। 'कठ' और 'ईश' उपनिषदों में कहा गया है कि मनुष्य के अन्तस् की स्वार्थी प्रवृत्तियां जब समाप्त हो जाती है तब वह अमृत बनकर ब्रह्मपद को प्राप्त करता है। वांछाओं और कामनाओं की समाप्ति विद्या और ज्ञान से ही होती है (2.3.14;77) । अगर देखा जाय तो जो मनुष्य ब्रह्म को जान लेता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। इसीलिए 'मुण्डक' और 'बृहदारण्यक' उपनिषदों में यह मत व्यक्त किया गया है कि ब्रह्म का ज्ञान ब्रह्म है , जिसमें प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता (3.2.9.4.4.6) । मनुष्य इसी संसार में और इसी जीवन में मुक्ति प्राप्त करता है। अत: उसके लिए सत्य का ज्ञान अपेक्षित है। तप और सदाचार से उसे सत्य का आभास मिलता है, केवल बौद्धिक विमर्श से यह संभव नहीं। 'मुण्डक उपनिषद' में यह विवृत है कि तप और श्रद्धा के साथ जो लोग अरण्य में निवास करते हैं तथा भिक्षाटन करके अपनी जीविका चलाते हैं वे शांत और विद्वान हैं तथा वे सूर्यद्वार से अध्यात्मा या अमृत पुरुष के लोक को प्राप्त करते हैं (1.2.8.10)। इसीलिए 'छान्दोग्य उपनिषद्' में यह स्वीकार किया गया है कि दान, तप, सदाचरण, किसी को हानि न पहुँचाने की प्रवृत्ति और सत्यभाषण जीवन रूपी यज्ञ की दक्षिणा है (3.17.4) । उदार मन, पावन विचार, शिष्ट व्यवहार, स्त्रियों का आदर, विद्वानों की सेवा आदि जीवन के महाव्रत माने गये। इन्हीं गुणों से आत्मा को प्रसन्नता और तृप्ति प्राप्त होती है। इसे धन और वैभव से तृप्ति नहीं मिलती।

(4) कर्म और ज्ञान का महत्त्व

उपनिषदों में कर्म और ज्ञान की महत्ता प्रतिपादित की गयी तथा दोनों के संयोग से जीवन के उत्कर्ष की बात कही गई है। 'मुण्डकोपनिषद्' में कर्म को ही अमृत कहा गया है तथा कर्म करने वाले को ब्रह्मानियों में उच्च माना गया है (1,1.8,3.1,4)। कर्म के दर्शन का प्रतिपादन वेदों में भी हुआ है। तथापि उपनिषदों में इसपर गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है। 'ईशोपनिषद्' में यह स्पष्ट कहा गया है कि सौ वर्ष की आयु तक मनुष्य अनवरत कर्म में लगा रहे। कर्म के साथ-साथ ज्ञान की भी अभिव्यंजना की गई है। ज्ञान के सहयोग से कर्म की विशिष्टता बढ़ जाती है और वह मनुष्य जीवन में महत्त्वशाली स्थान प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः कर्म और ज्ञान मिलकर व्यक्तित्त्व का विकास करते हैं । दोनों एक दूसरे के पूरक बनकर व्यक्ति को संचालित करते हैं । दोनों में से किसी का भी न रहना निष्क्रियता का परिचायक है। मनुष्य का आश्रम-जीवन उसके कर्म की अभिव्यक्ति करता है तथा उसे सदाचार, स्वाध्याय, तप,सत्य, इन्द्रिय-संयम के मार्ग पर अग्रसारित करता है। इस प्रकार कर्म और ज्ञान के समन्वित रूप से व्यक्ति जो कार्य और आचरण करता है उससे ब्रह्म और परमात्मा का भान होता है तथा वह जन्म और मरण जैसे आवागमन के चक्कर से मुक्त हो जाता है।

(5) औपनिषदिक उपासना

उपनिषद् युग में ओंकार की उपासना का विशेष स्थान था। 'ओंकार' शब्द की व्यंजनाप परमतत्त्व अथवा ब्रह्म से थी तथा उसमें निगूढ़ देव का दर्शन निहित था। 'भूमा' के दर्शनसे ही आनन्द की अनुभूति होती थी। अतः आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति करने वाला जीव अपनी आत्मा से प्रेम (आत्मरति:) करता था, वह अपनी आत्मा से क्रीड़ा (आत्मक्रीड़ा) करता था, अपनी आत्मा के सहवास (आत्ममिथुन:) का वह अनुभव करता था तथा अपनी आत्मा में अतिशयआनन्द (आत्मानन्दः) प्राप्त करता था। स्व-उपलब्धि ही उसकी पराकाष्ठा थी, जिसमें अखंड आनन्द का स्वरूप था।

उपनिषदों में इस आनन्द का वर्णन सांसारिक आधार पर लौकिक संस्कार के प्रिया-प्रियतम के सम्मिलन से लिया गया था। जिस प्रकार भौतिक जगत् में प्रिया से आलिंगित होने पर पुरुष न बाहर की वस्तु जान पाता था, न भीतर की,उसी प्रकार प्राज्ञ आत्मा से संपरिस्वक्त मनुष्य न बाह्य को जान पाने में समर्थ था, न अंतस् को। वस्तुतः वह स्थिति आत्मकाम की होती थी। वाक् (वाणी) का व्यापार अवरूद्ध हो जाता था। केवल 'शिव' ही रह जाता था, अर्थात् 'शिवः केवलोऽम्' की उपलब्धि होती थी इस प्रकार की अनुभूति स्वानुभूत्येकगम्य थी। वह अपरोक्षानुभूति वैदिक तत्त्वज्ञान का हृदय थी और भारतीय रहस्यवाद का मूलमंत्र। वस्तुत: यह उपासना पद्धति औपनिषद तत्त्वज्ञान का विशिष्ट आधार थी जिसमें क्रमशः 'तत्', 'त्वं', 'अहम' और 'अयम', अपनी ही आत्मा के साथ अपने ही शरीर के भीतर ऐक्य का अनुभव करता था और अन्तस् में एकात्म का वर्णन करता था।

(6) उपनिषद्-काल के दार्शनिक वर्ग

औपनिषद् युग में दार्शनिकों के दो वर्ग थे, एक गृहस्थ वर्ग और दूसरा तपस्वी अथवा सन्यासी वर्ग। गृहस्थ वर्ग के लोग समाज में बहुत पहले से थे जो गृहस्थ जीवन में रहते हुए दार्शनिक चर्चाओं में सम्मिलित हुआ करते थे। इनमें कुछ शासक थे और कुछ साधारण लोग। विदेह शासक जनक और काशीस्थ शासक अजातशत्रु ऐसे ही दार्शनिक थे। साधारण गृहस्थ दार्शनिकों में चाक्रायण, आरुणि और याज्ञवल्क्य प्रसिद्ध थे। गृहस्थ जीवन में निवास करते हुए भी इन चिन्तकों का जीवन अत्यन्त आचारित और तप:निष्ठ था। तपस्वी अथवा सन्यासी वर्ग के दार्शनिक अरण्य जैसे एकान्त स्थानों में रहा करते थे तथा दर्शन साहित्य का लेखन किया करते थे। स्वयं याज्ञवल्क्य गृहस्थ जीवन त्याग कर संन्यासी बन गए थे।